

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-VII

बच्चों का चित्रण

फ़राह फ़ारूकी

बच्चों एवं उनके सामाजिक-आर्थिक हालात के बारे में शिक्षक की समझ और धारणाएं उसके कार्य एवं व्यवहार को प्रभावित करती हैं। यह लेख इस सहज निर्मित समझ और धारणाओं की आलोचनात्मक नजरिए से छानबीन करता है। यह लेख मुश्किल सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में रहने वाले बच्चों के लिए ऐसी जगहों की जरूरत को रेखांकित करता है जहां बच्चे पढ़ सकें, खेल सकें और आपस में एक-दूसरे को हौसला दे सकें।

मौजूदा किस्त के शुरू में यह चर्चा की गई है कि टीचर बच्चों का चित्रण किस प्रकार करते हैं। यह सवाल उठाया गया है कि क्या इस तरह का चित्रण बच्चों से इनका आत्म-सम्मान ही नहीं बल्कि आगे बढ़ने के मौके भी छीन लेता है। साथ ही यह भी ज़िक्र है कि बच्चे एक-दूसरे को किस तरह देखते-पहचानते हैं। इन पहचानों के बारे में अध्यापकों को पता होना ज़रूरी है ताकि रूढ़िवादी विचारों में बदलाव लाने की कोशिश हो सके, बशर्ते उनके खुद के विचार तरक्की पसन्द हों।

इस किस्त में बच्चों के एक समूह का ज़िक्र है जो स्कूल के बाद एक घर में मिलता है और एक-दूसरे को गर्दिश में सहारा देने की कोशिश करता है। इसके द्वारा यह आग्रह करने की भी कोशिश है कि घनी आबादी वाले मोहल्लों में ऐसी जगह का इन्तेज़ाम ज़रूरी है जहां बच्चे मिल सकें और पढ़ सकें। ये बताने की भी कोशिश है कि ये वही बच्चे हैं जिनका चित्रण 'गैर-जिम्मेदार', 'जाहिल' और 'खराब विद्यार्थियों' की तरह किया जा जाता है। अगर शिक्षा तंत्र और टीचर का सहारा नहीं है तो यह एक-दूसरे का हाथ थामकर आगे बढ़ने की कोशिश है।

टीचर द्वारा बच्चों का चित्रण

ऐसा नहीं है कि सभी टीचर बच्चों का चित्रण एक तरह का करते हैं। आपस में फ़र्क भी देखने को मिलते हैं। फिर भी यहां उनकी आम-सी राय को दर्शाने की कोशिश की गई है। क्योंकि स्कूल के बुजुर्ग और ज़्यादा समय से काम कर रहे टीचर, बाकी उस्तादों की राय को काफी हद तक प्रभावित कर पाते हैं इसलिए इनकी राय को यहां ऐहमियत दी गई है। नीचे दी गई कई टिप्पणियां ऐसी हैं जो औपचारिक बैठक के दौरान कही गई थीं। इसलिए यह माना जा सकता है कि यूर्हीं नहीं कह दिया गया बल्कि यह बच्चों के बारे में सोचा-समझा तसव्वुर है। यहां कुछ जुमले जो अकसर सुनने को मिलते हैं, उन्हें ज़रा करीब से देखने-समझने की कोशिश की गई है।

शुरू में जब बोर्ड के नतीजों को लेकर मैंने परेशानी का इज़हार किया, तब जो टिप्पणी सुनने को मिली वह डरा देने वाली थी। कहा गया, “बंजर ज़मीन पर खेती नहीं होती, चाहे जितनी कोशिश

कर लें मैम, यह लोग नहीं सीख सकते।” अगर अल्फ़ाज पर गौर किया जाए तो आप पाएंगे कि बच्चों के पिछड़ने को कुदरती मान लिया गया है। साथ ही अपनी मेहनत की दलील दे दी गई है और इस तरह अपने-आपको किसी भी इल्ज़ाम से बरी कर लिया गया है। तजुरबेकार टीचर कई बार उत्साह में कम उम्र के टीचर को सलाह भी दे देते हैं, “ख़प्त होने से कोई फ़ायदा नहीं, इनको कोई डॉक्टर-इंजीनियर नहीं बनना, ठेली लगाएंगे।” कई टीचर अपने “इल्म” के बल-बूते पर कहते हैं, “कई बच्चे तो स्लो लरनर हैं, आईक्यू बहुत कम है, बस सत्तर ही होगा।” कई और जुमले सुनने को मिलते हैं, जैसे - “अरे मैम, यह मज़दूरों के बच्चे हैं, पढ़ाई-लिखाई इनके बस की बात नहीं है।” इस तरह के जुमले दिखाते हैं कि कुछ लोगों और बच्चों का पिछड़ापन कुदरती मानने के साथ-साथ, सीखने की सलाहियत भी कुछ “ख़ास” लोगों का सरमाया मान ली गई है, जिसमें मज़दूर और मज़दूरों के बच्चे शामिल नहीं हैं। आगे यह भी कह दिया जाता है, “हमारे बच्चों से पढ़ाई के अलावा कुछ भी करवा लो, बहुत अच्छी तरह करेंगे।” बच्चों ने जो सामान एस.यू.पी.डब्ल्यू. (SUPW) के दौरान बनाया था या फिर स्कूल में पुराने बर्तनों की नुमाइश लगाई थी, यह उसके ताल्लुक से कहा गया था। इस तरह के जुमले तब भी कहे जाते हैं, जब बच्चों को आयोजन करने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। बहुत ही सहजता से दिमागी काम को बुलन्द दर्जा और हाथ के काम को कमतर करार दे दिया जाता है। साथ ही यह भी मान लिया जाता है कि हाथ के हुनर और आयोजन जैसी कुशलताओं में दिमाग का कोई दखल नहीं होता है। और अगर टीचर खुद ही यह चूक करें कि बर्तनों की नुमाइश को एक बौद्धिक क्रिया न समझें तो कोई क्या करे।

अनुशासन को लेकर हमारे स्कूल में काफ़ी फ़िक्र देखने को मिलती है। बहुत से स्कूलों की तरह हमारे स्कूल का भी मानना है कि बच्चों को “ठील” नहीं देनी चाहिए। यह बात समझे बगैर कि मज़दूर बच्चों के लिए वक़्त की पाबन्दी ज़्यादा मुश्किल हो जाती है, क्योंकि उनके आर्थिक हालात उन्हें मजबूर करते हैं कि रात देर तक कारख़ानों में काम करें। इस वजह से कई बच्चे सुबह देरी से पहुंचते हैं। यह सुनने को मिलता है, “अरे मैम, ऐसे माहौल के हैं कि इन्हें कन्ट्रोल करना आसान नहीं है।” इस पर कई टीचर दूसरे की नाअहली और अपनी खूबी बयान करते हुए कहते हैं, “इन्हें कन्ट्रोल करना मुश्किल तो होता है, लेकिन ऐसा नहीं है, काबू में आ ही जाते हैं” या फिर “लगाम तो कसनी ही पड़ती है।” यहां जिस अन्दाज़ से “काबू” लफ़्ज का इस्तेमाल किया है, लगता है जैसे “आम” या जिन्हें आम मान लिया गया है, उनसे अलग ये “निचली” फ़िस्म के बच्चे हैं। कुछ और बातें जो इन बच्चों के लिए कही जाती हैं, वह शक को पुख़्ता कर देती हैं, “मैडम, इनसे दीवारें कुदवा लीजिए, बिलकुल जानवर हैं। एक छत से दूसरी छत और दीवार कूदकर बाहर, हमारे-आपके बच्चों जैसे थोड़ई हैं।” इस तरह बच्चों को “जंगली” कहा और करार दिया जाता है। शायद “हमारे” घरों के बच्चे जो हाथ के या मेहनत के काम से दूर रहने की वजह से छुईमुई बन जाते हैं, अगर यह कर पाते तो उनके लचीलेपन और सेहत की तारीफ़ तो शायद होती। हां, इन बच्चों की यह हरकत “सत्ता की जेल” तोड़कर निकल भागने से जुड़ी है इसलिए “सत्ताधारियों” को तिल-मिला देती है। तब यह भी कहा जाता है, “हम तो अपना काम पूरी ईमानदारी से करते हैं, यह तो इनकी बदनसीबी है कि हमसे फ़ायदा नहीं उठाते।” काश “ईमानदारी” में इस बात पर गौर भी शामिल होता कि बच्चे स्कूल से भाग क्यों रहे हैं!

जब बच्चे “ऐसी हरकतें करेंगे तो उनके सुधार को लेकर फ़िक्र तो लाज़मी है। हमारे एक तजुरबेकार टीचर का कहना है, “इन बच्चों को स्कूल की नहीं बल्कि रिफ़ोर्मेटरी स्कूल की ज़रूरत है, अमरीका में ऐसे बच्चों के लिए ऐसी ही ख़ास जगह बनाई जाती है।” पूछने पर कि उनका ऐसा क्यों मानना है, सारा इल्ज़ाम बच्चों के माहौल पर डाल दिया। दबे अल्फ़ाज़ में समझाने की कोशिश भी की, “मैम, हर बात लफ़्जों में कहना मुश्किल होता है, यह कम उम्र में सब कुछ जान जाते हैं! वहीं बच्चे सोते हैं, वहीं मां-बाप। इन बेचारों का क्या कुसूर, एक-एक कमरे के घर होते हैं, क्या करें मजबूरी है।” इस तरह बच्चों में सुधार और कन्ट्रोल की

लेखक

फ़राह फ़ारूकी

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

ज़रूरत उभारी जाती है। अब कोई क्या कहे कि ज़्यादा कमरों के घर में बच्चे कम्प्यूटर का बस एक बटन दबाकर “सब कुछ से ज़्यादा” जान जाते हैं। उनके सुधार और “मोरल एडुकेशन” की बात तो कोई नहीं करता। अगर कुछ टीचर, बच्चों को इल्ज़ाम से बरी भी करते हैं तब भी इनका घर-परिवार तो इल्ज़ाम के दायरे में ही रहता है और बच्चों के बिगड़ने का श्रेय उनके परिवार पर थोप दिया जाता है। कहते हैं, “इनके मां-बाप को इनकी फ़िक्र ही कहां है, यह पुरानी दिल्ली की ख़ासियत है मैम, रात दो बजे तक घूमना-फिरना चलता है, दिन चढ़े तक लोग सोते हैं।” या फिर, “मां-बाप को फ़िक्र ही कहां है, बच्चे यूं ही मारे-मारे फिरते हैं।” या तो टीचर यह हकीकत जानते नहीं हैं या फिर नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि इन मज़दूर बच्चों की और उनके मां-बाप की दिनचर्या बाज़ार से जुड़ी है जो अपनी ही चाल से चलता है। इसका तफ़्सीली ज़िक्र तो मैं पिछली किस्तों में कर ही चुकी हूं। एक मध्यवर्गीय नौकरीपेशा परिवार की तरह वक़्त पर उठना, खाना, सोना, पढ़ना इनके बस में नहीं है, आख़िर पेट तो पालना ही है। तालीम हासिल करना इन परिवारों के लिए एक बड़ी जंग है, इस बात को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। सहारा देने और इनकी दिनचर्या के हिसाब से स्कूल निज़ाम को आयोजित करने की कोशिश फिर एक दूर की बात लगती है।

बच्चों का चित्रण एक अल्पसंख्यक मुसलमान के रूप में अकसर जिस तरह किया जाता है, मुझे अपने-आपसे यह सवाल करने पर मजबूर कर देता है कि मैं “प्रभुत्व” बहुसंख्यक समूह किसे मान रही हूं। जिस प्रकार मुसलमानों का चित्रण मीडिया में या कुछ “प्रभुत्व” समूहों द्वारा देखने को मिलता है यह उससे कुछ ज़्यादा फ़र्क नहीं है। कहा जाता है, “क्या बताएं मैम, क़ौम का बुरा हाल है, कहीं मियां भाइयों के किसी मोहल्ले में निकल जाइए, गंदगी उरूज पर दिखती है, हिन्दुओं के मोहल्ले देख लीजिए; कितने साफ़-सुथरे मिलेंगे।” या फिर, “मैम, क़ौम का तब ही तो बुरा हाल है, पढ़ना कौन चाहता है यहां, मुर्गा रोज़ खाने को चाहिए, पढ़ाई पर खर्च करने के लिए पैसे नहीं हैं। हिन्दू यह काम नहीं करता, पढ़ने की आगे बढ़ने की कोशिश करता है। तब ही तो वह तरक्की कर रहे हैं।” यह तमाम चीज़ें आर्थिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य को देखे बग़ैर कह दी जाती हैं। यह दलील भी दी जाती है कि अगर हिन्दू मुसलमानों के ऐसे समूहों को देखें जिसके समान आर्थिक हालात हैं तब भी उनमें सफ़ाई की तरफ़ रुझान में फ़र्क होगा यानी हिन्दू हैं ही ज़्यादा सफ़ाई पसंद। मुझे तो ऐसा नहीं लगता है। भई, जैसा कि मैं ज़िक्र कर ही चुकी हूं कि एक कमरे की जगह दिन में कारख़ाने और रात में घर का काम करती है, जिसमें दस-ग्यारह लोग रहते हैं। एक टॉयलेट इस्तेमाल करते हैं। इस सूरत में इनसे मध्यवर्गीय परिवार जैसे रहन-सहन की उम्मीद रखना ज़्यादाती है। यह भी हम जानते हैं कि घनी आबादी वाली बस्तियों में म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन जैसी संस्थाएं काम नहीं करती हैं या फिर कर नहीं पाती हैं। यह भी ताक़तवर लोगों के निसबतन कम आबादी वाले मोहल्लों में ही काम करती दिखाई पड़ती हैं। यह दलील जब क़रीब से देखी-समझी जाए कि एक आर्थिक स्तर से जुड़े लोगों की सफ़ाई की तरफ़ चेतना में फ़र्क है, तो खोखली दिखाई पड़ती है। स्कूल के क़रीब जो ऐसे मोहल्ले हैं जहां ज़्यादातर प्रभुत्व दलों के लोग रहते हैं वह ज़्यादातर नौकरी-पेशा या छोटे-मोटे ताजिर हैं, जिनका माली और सामाजिक रुत्वा मज़दूर मुसलमानों से कहीं बेहतर है। अपनी ही “क़ौम” (अगर उन्हीं की ज़बान में कहें) के लोगों के प्रति रूढ़िवादी विचार रखना यह दर्शाता है कि यह सत्ता का खेल है। और यह भी कि प्रभुत्व और कमज़ोर वर्ग सिर्फ़ मज़हब के हिसाब से तय नहीं होते हैं बल्कि इससे कि किस वक़्त और किसके पास सत्ता है और कौन हाशिए चूम रहा है। ताक़तवरों और कमज़ोर लोगों के बीच गैरियत की एक बड़ी गहरी खाई रहती है जो एक-दूसरे को जानने-समझने के मौके छीन लेती है।

इसी चपेट में बच्चों के घर और रिश्ते-नाते भी आ जाते हैं। कहा जाता है, “इन लोगों के यहां शरीफ़ घरों जैसा माहौल कहां होता है, मां-बाप के बीच लड़ाइयां देखते हुए बड़े होते हैं।” या फिर, “यह मेरा खुद देखा हुआ है कि इन लोगों के घरों में लड़ाइयां रोज़ की बात है, पता चला बाप ने दूसरी शादी कर ली, मां बच्चों को पाल रही है, यही सब रहता है।” भला कोई पूछे, तंगी, कमी और बुनियादी ज़रूरियात पूरी करने की जद्दोजहद की हालत

में तकरार तो लाज़मी है। अगर फिर भी काफ़ी लोगों में आपसी रिश्ते और मौहब्बतें कायम हैं तो यह अपने-आपमें बड़ी बात है। शायद हम उनकी जगह होते तो यह नामुमकिन होता।

एक और मज़ेदार और बारीक फ़र्क जो चंद टीचर करते हैं वह है तमीज़ और तहज़ीब के बीच का। कहना है, “हमारे बच्चे तमीज़ के तो हैं लेकिन तहज़ीब नहीं है।” तमीज़ से मुराद है कि बड़ों का खासतौर से टीचर का अदब करना, अगर वह कोई काम कह दे (स्कूल के काम के अलावा) तो वह पूरा करने की कोशिश करना, नज़रें मिलाकर जेबों में हाथ-डालकर बात न करना वगैरा-वगैरा। लेकिन “तहज़ीब” तो पुराने “खानदानी,” “पढ़े-लिखे” लोगों का सरमाया है। या फिर यूं कहिए कि जिन पर किस्मत कई पुश्तों से मेहरबान है। यह ग़रीब बच्चे तो इससे महरूम हैं और शायद रहेंगे। तहज़ीब से मुराद है खास मध्यवर्गीय परिवारों का खान-पान, शौक, अदब-आदाब, बोल-चाल जिसे मानक समझ लिया गया है। वैसे भी यह दौलत तो उन्हीं के पास है जिनके पास “अपनी” संस्कृति को “औरों” की संस्कृति से बेहतर या ऊंचा दिखाने-जताने की ताक़त है। तब ही सरलता से कह दिया जाता है, “इस इलाके में जिहालत बहुत है, पढ़े-लिखे मां-बाप नहीं हैं, स्कूल में आकर सिर्फ़ नुक़सान ही कर सकते हैं, किसी तरह की मदद तो क्या करेंगे।” क्योंकि परिवार और यह लोग कमतर करार दे दिए जाते हैं, इसलिए स्कूल से एक रिश्ता भी कायम नहीं हो पाता है। यह भी सच है कि मध्यवर्गीय परिवारों की तरह न तो इनके पास वक़्त का सरमाया है, न स्कूल पाठ्यक्रम और टीचर द्वारा मानक करार दी गई तहज़ीब का। इस तरह इन मज़दूरों के फ़न, योग्यता और मेहनत-मशक्क़त की सच्चाई स्कूल से दूर-दूर ही रहती है, “रखी जाती है” भी कह सकते हैं।

ऊपर तो “मैनेजर” से की गई समझी-बूझी गुफ़्तगू पेश की गई थी। लेकिन बच्चों की लगातार शिकायत रहती है कि गुस्से में टीचर उन्हें कई तरह के ख़िताबों से नवाज़ देते हैं। हाल में एक बच्चा काफ़ी नाराज़ था और उसने बताया कि टीचर ने उससे कहा, “तुम सरकारी भीख पर पलते हो फिर भी इतनी शैतानी करते हो।” टीचर का इशारा उन वज़ीफ़ों और पैसों की तरफ़ था जो सरकार की तरफ़ से इन बच्चों के लिए आते हैं। मक़सद शायद वही था, जो इन बच्चों ने समझा और कहा, “मैम, आप ही बताइए, इस तरह हमें ज़लील किया जाता है।” एक और बात जो मेरी समझ में आई वह यह कि इस तरह के इज्जत और बेइज्जती के ख़िताब किसी भी चीज़-रिहाइश की जगह, पेशा, रुख़्ते-से जोड़े जा सकते हैं। इसका ताल्लुक़ बस इससे है कि आप अपने समूह को और दलों के मुक़ाबले में सत्ता की सीढ़ी पर कहां दिखते हैं - ऊपर या नीचे। जैसे बच्चों को बिहारी, जमना पार के (पूर्वी दिल्ली), फ़राशख़ाने के कहकर पुकारा जाता है। ज़्यादा हक़ीर ताने भी दे दिए जाते हैं, जैसे - “तुम तो नाली के कीड़े हो, तुम ज़िन्दगी में कुछ भी नहीं कर सकते।” साथ ही यह शिकायत भी रहती है, “यह लातों के भूत हैं, बातों से नहीं मानते, अब डिपार्टमेन्ट ने हाथ से डंडा ही छीन लिया तो हम क्या करें।” कभी सोचती हूँ कि इन अल्फ़ाज़ की चोटें डंडे की चोट से कहीं ज़्यादा गहरी होती होंगी। यह बच्चों की पहचान, जीने, आगे बढ़ने की उम्मीद और जोश सभी को घायल कर देती होंगी। मौहब्बत और ख़याल के साथ, डंडे खाना ग़लत तो होता लेकिन सहना फिर भी आसान था।

बच्चों के इस तरह चित्रण करने की कई वजह समझ में आती हैं। एक, टीचर चाहे काफ़ी सालों से स्कूल में पढ़ा क्यों न रहे हों लेकिन बच्चों के हालात और ज़िन्दगी से कम ही वाकिफ़ हैं। चंद ही टीचर ऐसे होंगे जिन्होंने स्कूल से लगे मोहल्लों में बच्चों के घर और कारख़ाने देखे होंगे। अगर देखे भी हैं तो अपनी कामयाबी को मेहनत की देन समझकर और उनकी हालत को नाअहली या कोताही करार देकर सुकून में हो जाते हैं। इन ग़ैरबराबरी के सामाजिक, राजनैतिक-आर्थिक कारणों की जांच करने की काबलियत इन्हें शिक्षा तंत्र ने नहीं बख़्शी है। दूसरा कारण है कि यह अपनी संस्कृति, रहन-सहन, भाषा को बस जीने का एक ही अच्छा तरीका मानते हैं। औरों की संस्कृति तो फिर हाशियों का शिकार हो ही जाती है। इस तरह की धारणाएं और चित्रण, समाज में ताक़वर वर्ग

कमज़ोर वर्ग की करता हुए दिखता है। चाहे ताक़त - जाति, दौलत या सरमाए, औहदे, इल्म - किसी तरह की ही क्यों न हो। हमारे स्कूल में काफ़ी टीचर ऐसे हैं जो अपने परिवार की पहली पीढ़ी हैं जो शिक्षा हासिल करके आज पेशेवर हैं। यह हैरानी भी होती है कि वह अपने परिवार के जद्दोजहद को इतनी जल्दी भुला बैठे कि इन बच्चों के हालात को नज़रअन्दाज़ करते हुए ऐसा चित्रण करते हैं। या फिर वह अपने और बच्चों के सामाजिक-आर्थिक हालात में फ़ासला दिखाने की कोशिश करते हैं और उस फ़ासले को अपनी बड़ाई समझते हैं।

स्कूल के बच्चों ने ज़िन्दगी को बहुत क़रीब से देखा है जिस वजह से अपनी उम्र के बहुत सारे बच्चों के मुक़ाबले में उनके गहरे तज़ुरबे हैं। यह बड़ी इज़्ज़त के मुस्तहक़ हैं। जब इनके तज़ुरबों को स्कूल में जगह मिलेगी, इनके कौशल और मेहनत की क़दर होगी तब ही इनके विमोचन का सुराग मिल पाएगा। इन्हें तरस की नहीं, इज़्ज़त और कुबूलियत चाहिए। तरस की भीख के टुकड़े भी कई टीचर इनकी तरफ़ बढ़ा देते हैं, कहते हैं, “भाई, बहुत ग़रीब बच्चे हैं”, “वह दो भाई तो यतीम हैं, मां सिलाई करके घर चलाती है”, “स्कूल में खेल का पीरियड बहुत ज़रूरी है, इन्हें कुछ धूप-हवा तो मिले, ज़रा-जरा सी कोठरियों में रहते हैं।” यह तमाम बातें जहां सही हैं वहीं यह भी सच है कि इनके सख़्त तज़ुरबों ने इन्हें एक पैनी समझ बख़्शी है जिसका इस्तेमाल न करके हम इन्हें “असमर्थ” और “अशक्त” कर रहे हैं। असल में शिक्षा तंत्र और उससे जुड़ी आंकने की प्रक्रिया इतनी कठोर और एक तरफ़ा है कि टीचर और बच्चों से विकल्प और रास्ते छीन लेती है। यहां यह कहना ज़रूरी है कि चंद टीचर ऐसे हैं जो न सिर्फ़ इनकी समझ और कौशल की तारीफ़ करते हैं बल्कि आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन और सहारा भी देते हैं।

बच्चे एक-दूसरे को किस तरह देखते-पहचानते हैं?

यह तो आपने पिछले अंक में पढ़ा था कि बच्चे किस तरह अलग-अलग समूह का हिस्सा हैं। इन समूहों की अपनी पहचान और खासियतें हैं जिसके हिसाब से यह बच्चे समूह के सन्दर्भ में व्यवहार करते हैं। इन समूह के अलावा भी बच्चे एक-दूसरे को कई तरह की पहचानों के रंग में रंगते हैं। यह पहचानें एक बंटे समाज का अक्स लगती हैं जिसमें हर समूह का अपना एक रूतबा है।

बच्चों से पढ़ाई के सिलसिले में या फिर वैसे भी कभी बातचीत हुई है तो यह अन्दाज़ा हुआ है कि उन्हें बखूबी एहसास है कि वह मुसलमान होने की वजह से भी कई तरह के हाशियों के शिकार हैं। कक्षा आठवीं की एन. सी.ई.आर.टी. (NCERT) की किताब में एक पाठ है, जिसका नाम हाशियेबन्दी (Marginalization) है, जो मैंने इस कक्षा में पढ़ाया था। पढ़ाने के दौरान क्या-क्या बातचीत हुई इसका तफ़सीली ज़िक्र किसी और किस्त में करूंगी। बच्चों ने यह तो कहा ही कि, “फ़िल्मों में मुसलमानों को जो किरदार दिए जाते हैं वह औरों को तो नहीं दिए जाते मसलन आतंकवादी का।” यह भी कहा, “अगर कहीं पर धमाका होता है तो पुलिस मुसलमानों पर ही शक करती है”, या फिर, “मुसलमानों को नौकरियां मिलना मुश्किल होती है।” इस कक्षा के संदर्भ के अलावा भी और बच्चों ने इस तरह की बातें कहीं हैं जिससे अन्दाज़ा होता है कि उन्हें अपनी पहचान से जुड़े नज़रियों और नतीजों का एहसास है। लेकिन यह पहचान और एहसास स्कूल में आपसी रिश्तों के आड़े नहीं आता। स्कूल में ग़ैर-मुसलमान या और मज़हबों के बच्चे बहुत कम हैं, शायद इसलिए यह पहचानें आपसी व्यवहार में ज़्यादा सक्रिय रोल अदा नहीं करती हैं। खूब दोस्तियां निर्भाई जाती हैं। एक बार ग़रीब मुसलमान बच्चों के लिए अल्पसंख्यक विभाग से वज़ीफ़े के पैसे आए। हिन्दू बच्चे जो इस स्कूल के सन्दर्भ में “अल्पसंख्यक” हैं उन्हें एहसास और तकलीफ़ हुई। एक साहब ने दोस्त से कहा, “भाई, ज़रूरत तो हमें भी है, तुम्हारे लिए वज़ीफ़ा आता है; हमारे लिए नहीं।” दोस्त साहब ने अपने वज़ीफ़े के आधे पैसे उन्हें दे दिए।

हमारे स्कूल में तक़रीबन आठ फ़ीसदी शिया बच्चे हैं। इसके बरख़िलाफ़, कई बार शिया-सुन्नी बच्चों में ठन जाती है। शुरुआत अपने-अपने अक़ीदों को सही मानने-समझने से होती है। वैसे भी स्कूल और मोहल्ले में एक मज़हबी माहौल तो है ही।

मुसलमानों में दो अलग-अलग पंथ हैं जो कई ऐतबार से अलग हैं, लेकिन एक खुदा, रसूल और किताब को मानते हैं। ऐसे में अक़ीदों का जायज़ा और उन्हें सही-ग़लत समझने की गुंजाइश तो रहती ही है। नीचे दी गई गुफ़्तगू एक टीचर और बच्चों के बीच हुई जिसकी तफ़्सील उन्होंने ही मुझे बताई। यह टीचर शिया हैं लेकिन बच्चों को इसका इल्म नहीं था।

बच्चा - मैम, यह शिया है, शिया भी काफ़िर होते हैं।

टीचर - ऐसा नहीं कहते, एक खुदा को मानते हैं, एक किताब है, एक रसूल को मानते हैं।

दूसरा बच्चा - अरे मैम, ग़लत अक़ीदे हैं, सहाबा इकराम को गाली देते हैं।

टीचर - ऐसा नहीं कहते, खुदा को बुरा लगता है, मिलकर रहते हैं, उनके अपने अक़ीदे हैं, तुम अपने पर चलो।

बच्चा - मैम, ताज़िया देखने से तलाक़ हो जाता है।

टीचर - यह सब छोड़ो। अच्छा, यह बताओ कि उनके रसूल का नाम क्या है?

बच्चा - खुदा-रसूल का वास्ता मैम, कहीं आप शिया तो नहीं, बड़ी तरफ़दारी कर रही हैं।

टीचर - इससे तुम्हें क्या मतलब।

ऊपर दी गई बातचीत से ज़ाहिर है कि एक-दूसरे के बारे में रूढ़िवादी रखते हैं। इसके अलावा भी एक-दूसरे को “मच्छर”, “खटमल” जैसे ख़िताबों से नवाज़ते हैं। सुनने में आया है कि कभी मौहर्म्म के दौरान गुल्थम-गुल्था भी हुई है।

ज़बान और लहज़े को लेकर भी कई धारणाएं हैं। हां, बच्चों के बीच ज़बान और लहज़े का फ़र्क़ साफ़ झलकता है। बच्चे इस बारे में एक-दूसरे को काफ़ी छेड़ते भी हैं। बिहार से आए बच्चे तो छेड़-छाड़ का अकसर शिकार रहते हैं, उन्हें चावल-चावल कहकर भी पुकारा जाता है। इनका भी “दिल्ली वालों” के बारे में अपना ही नज़रिया है। कहते हैं, “दिल्ली वालों को तमीज़-तहज़ीब कहाँ है। ऐसी-ऐसी गालियां बकते हैं कि नज़रें नीची हो जाती हैं।” या फिर, “बस गोश्त खाने के मुसलमान हैं। एक से एक उजले कपड़े पहनते हैं, फिर भी गाली देने पर आते हैं तो कुछ नहीं देखते हैं।” अलग-अलग राज्यों के ऐतबार से ही नहीं बल्कि पुरानी दिल्ली के अलग-अलग मोहल्लों के हिसाब से भी पहचान आन-बान-शान होती है। गली-कूचों के नाम तो पुराने चले आ रहे हैं, लेकिन अब मोहल्ले पेशे और ज़ात-पात के हिसाब से नहीं बंटे हैं बल्कि मिली-जुली सी आबादी है। नाम से तो अब भी बहुत कुछ अंदाज़ा लगाया जा सकता है, जैसे - गली ठेले वाली, मोहल्ला शेख़ियान, गली दर्ज़ियान वगैरा, लेकिन आबादी तो ज़्यादातर मोहल्लों में अब मिली-जुली सी है। फिर भी कभी लहज़े को लेकर छेड़खानी तो मोहल्लों के बीच भी चलती है। अगर गौर करें तो लहज़े में फ़र्क़ पता भी चलता है। साथ ही अजीब धारणाएं भी बनी हैं, “अरे, उस मोहल्ले की लड़कियां तो बहुत तेज़ होती हैं।” या “वहां के लोग तो ज़रा में चाकू निकाल लेते हैं।”

एक मोहल्ले के बच्चे अपने-आपको कई माइनों में अलग पाते हैं- यह है क़साबपुरा और ईदगाह का इलाक़ा। जैसा कि मैं पिछली किस्त में लिख चुकी हूँ कि इन इलाक़ों में काफ़ी तादाद में क़साई पेशे से जुड़े लोग रहते हैं। अभी कुछ साल पहले क़साई खाने इस आबादी के इलाक़े से 20-25 किलोमीटर दूर बना दिए गए हैं। काम और आमदनी को लेकर पिछले कई सालों से इस इलाक़े में काफ़ी उथल-पुथल रही है। शायद इसी वजह से लोग और बच्चे अपनी पहचान को लेकर ज़्यादा भावुक हो गए हैं। हाल में इस इलाक़े के नौजवान लड़के और लड़कियां पढ़ाई की तरफ़ आकर्षित हुए हैं। क़साबपुरा के एक बच्चे ने इस बार बोर्ड का नतीजा आने पर बड़ी शान से मुझे बताया, “मैम, इस बार लगातार तीसरे साल क़साबपुरा के बच्चे ने टॉप मारा है।” इसी बच्चे ने बाद में यह भी बताया कि सरकारी क़साई खाने अब ज़्यादा उसूल और क़ानून से चलते हैं, इसलिए अठारह साल से कम उम्र के बच्चों को अन्दर जाने और काम करने की इजाज़त नहीं है। इस वजह से भी बच्चों का और इनके बड़ों का रुझान पढ़ाई की तरफ़ बढ़ा है। क़साबपुरा और बाड़े (मोहल्ले का नाम) के लोगों के बीच पिछले सालों में कई बार लड़ाई हुई है। किसी

छोटी-सी बात पर शुरू हुई लड़ाई ने काफ़ी खतरनाक रुख़ इख़तियार कर लिया। इस बार की लड़ाई तो बस मोटरसाईकल ग़लत जगह पार्क करने से शुरू हुई थी। लड़ाई होने पर क़साबपुरा के लोगों का पेशा उनकी सिफ़त मान लिया जाता है। बड़े और बच्चे एक-जबान होकर कहते हैं, “क़साई हैं न, खतरनाक लोग हैं, ज़रा-ज़रा बात पर चाकू निकाल लेते हैं। इनसे बचकर रहना चाहिए।” अब ऐसी बातें कान में पड़ेंगी तो बच्चे-बड़े भड़केंगे ही।

ऊपर दी गई पहचानों के अलावा और भी हैं जिनके बिना पर बच्चे एक-दूसरे को आंकते पहचानते हैं। चंद ही सही, जिन बच्चों की शुरुआती तालीम इंग्लिश मीडियम स्कूल में हुई है, और अब वे हमारे स्कूल में हैं, उनका बड़ा नाम और रुत्बा है। एक बच्चे ने दूसरे के बारे में बताया, “वह बख़तावर, इंग्लिश मीडियम वाले जो हैं, वह सैकण्ड टॉपर हैं।” इससे पहले भी बख़तावर के बारे में इसी तरह बात हुई है। यहां यह याद दिलाना ज़रूरी है कि यह सभी पहचानें, किसी एक समूह का हिस्सा बनने पर फ़ीकी-सी पड़ जाती हैं। हर समूह की एक खास शिनाख़्त है और उससे जुड़े सिफ़त और उसूल हैं। जैसा कि पिछली किस्तों से ज़ाहिर होता है कि बच्चे समूह में समूह का रूप-रंग धारण करने की कोशिश करते हैं।

यहां हमें दो बातें याद रखने की ज़रूरत है। पहली, टीचर के नाते क्या हम जाने-अनजाने इनमें से किसी पहचान को औरों के मुक़ाबले में ऊंची या नीची सीढ़ी पर टिकने या क़रार दिए जाने में कोई योगदान दे रहे हैं। मेरा मानना है कि इसमें टीचर का या स्कूल का रोल होता है। हम जानते ही हैं कि आम स्कूलों में टीचर-शागिर्द का एक ग़ैरबराबरी का रिश्ता होता है। जब बच्चों को यह अन्दाज़ा होता है कि टीचर कभी किसी पहचान का मज़ाक उड़ा रहे हैं या फिर औरों के मुक़ाबले में कमतर समझ रहे हैं तो उनके दिमाग में ग़ैरबराबरी की तस्वीर घर कर जाती है। जब सत्ता की और इल्म की गद्दी पर बैठकर टीचर ऐसा करेंगे तो यह मुमकिन भी है। इसलिए हमें टीचर के तौर पर बहुत जिम्मेदार होना होगा। दूसरा, यह ज़रूरी है कि टीचर यह जानने का प्रयास करें कि बच्चे एक-दूसरे को कैसे देखते-पहचानते हैं। जब वह बच्चों के स्थानीय संदर्भ से शुरू करके, ज़्यादा व्यापक संदर्भों की तरफ़ बढ़ते हैं तब ही शिक्षा और ज़िन्दगी का जुड़ाव बच्चे देख पाते हैं। वरना तालीम एक अमूर्त-सी चीज़ बनकर रह जाती है। अगर हम बच्चों की धारणाओं को समझेंगे और उन्हीं से बातचीत और सीखने-समझने की शुरुआत करेंगे तो बच्चों के ज़रिए समाज को बदलने का सुराग मिल सकता है। बच्चों के फ़ौरी सन्दर्भ और तज़ुरबों से शुरू करके जब हम ज़ात-पात, रेस वग़ैरा के बारे में बच्चों से बात करेंगे तो उनकी गहरी समझ बनेगी। यहां बच्चों द्वारा किए गए एक-दूसरे के चित्रण को देने का मक़सद यह सवाल उठाना भी है कि बच्चे अलग-अलग समूहों के बारे में ऐसी रूढ़िचिन्ता कब और कैसे बना लेते हैं। उनके उस्तादों की समाज के बारे में तस्वीर क्या इस चित्रण से फ़र्क है? क्या वह जाने-अनजाने अपनी धारणाएं इन बच्चों पर थोप देते हैं? फिर क्या वह इस समाज में बहते रूढ़िचिन्तियों, विचारों, धारणाओं, जो की ग़ैरबराबरी और सत्ता को बरक़रार रखने से जुड़े हैं, पहचान पाएंगे ताकि उन्हें बदलने की कुछ कोशिश कर सकें।

बच्चों के समूह (III)*

बच्चों के कई तरह के समूह के बारे में तो पिछली किस्तों में मैं आपसे ज़िक्र कर चुकी हूँ। अब जिस समूह की बात मैं आपसे करने जा रही हूँ वह स्कूल और मोहल्ले के बच्चों का एक समूह है जो रोज़ स्कूल के बाहर एक घर में मिलता है, पढ़ाई और ज़िन्दगी की जद्दोज़हद से जूझने की कोशिश करता है। आपको अन्दाज़ा होगा कि बच्चों का चित्रण जिस प्रकार किया गया है वह ग़लत ही नहीं बल्कि नाइंसाफ़ी भरा है। वह हमें उनके हालात, समाज और शिक्षा तंत्र की ग़ैरबराबरी देखने से रोकता है। बच्चों को ज़रा-सा सहारा, जो उनका हक़ है, अगर दिया जाए तो वे तालीम हासिल करने और अपने हालात को बदलने की पुरजोर कोशिश करते हैं। जैसा कि मैं

* शिक्षा विमर्श के पहले दो अंकों में ‘बच्चों के समूह’ शीर्षक से लेख छपे हैं। यह उसकी अगली कड़ी है।

पहले बता ही चुकी हूँ कि हमारे स्कूल के बहुत से मज़दूर बच्चे और मज़दूरों के बच्चे एक कमरे के छोटे घरों में रहते हैं जिसमें कारखाना भी चलता है। ऐसे में जगह की तो शदीद कमी रहती ही है। पिछले साल एक ऐसे समूह का पता चला जिसने जगह की कमी का इलाज ढूँढ निकाला है।

बारहवीं जमात के फ़ैजान और उसके छोटे भाई फ़ाज़िल के वालिद ख़ानसामा हैं। उनका एक छोटा-सा पुश्तैनी मकान है, जिसके ऊपर की मंज़िल पर नए पुख़्ता दो कमरे बनवा लिए गए हैं, इनका परिवार उन्हीं में रहता है। यह परिवार मुक़ाबलतन अच्छी हैसियत वाला है। फ़ैजान और उसके भाई बहनों को आमदनी की खातिर कोई और काम करने की ज़रूरत भी नहीं है। काम चल ही जाता है। मकान की नीचे की मंज़िल फ़ैजान और उसके दोस्तों की मिलकियत है। यहां 6×8 फुट का एक कमरा है, एक छोटा-सा बरामदा और सहन भी है। बरामदे में अनाज की बोरियां, साईकिल, मोटरसाईकल के अलावा एक बड़ी चौकी पड़ी है। चौकी का एक पाया टूटा है, लेकिन ईंट रखकर उसे बराबर कर लिया गया है। छोटे कमरे में एक तरफ़ एक पुराना कम्प्यूटर रखा है जिसकी मेज़ के सामने एक कुर्सी है, जिसे कई रंग के तारों से जोड़कर ठीक किया गया है। सामने की दीवार पर एक सफ़ेद बोर्ड लगा है जिसकी बराबर में ताख़ पर दस-बाहर अलग-अलग मज़मूनों की किताबें रखी हैं। कमरे के दूसरे किनारे पर एक वर्जिश करने की पुरानी साईकिल खड़ी है। असल में हमारे फ़ैजान मियां कुश्ती बाज़ हैं और स्कूल की दीवार से लगे अखाड़े में कुश्ती सीखते हैं। साईकिल के पीछे कोने में गेंद-बल्ला रखा है। फ़ैजान और उसके समूह के दस-बारह बच्चों के लिए यह जगह बस “कुदरत” का तोहफ़ा ही समझिए।

इस समूह का पता चलने पर मैं, फ़ैजान के साथ, गली ईश्वरी प्रसाद में स्थित जब उसके घर पहुंची, उस वक़्त वहां नौ दोस्त मौजूद थे। मुझे देखकर खुशी का ठिकाना न रहा। बड़ी शान से अपने मिलने की यह जगह खासतौर से कम्प्यूटर और सफ़ेद बोर्ड दिखलाए। वक़ार मियां ने खुशी का इज़हार करते हुए शेर भी पढ़ा:

“आप आए हमारे घर खुदा की कुदरत है
कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं।”

बाहर बरामदे में, चौकी के पास अंदर से कुर्सी लाकर रखी गई, मुझे उस पर बिठाया गया। फ़ैजान ने चौकी के नीचे से एक टूटा कम्प्यूटर खींचा और उस पर बैठ गए। बाकी बच्चे चौकी पर बैठे, चौकी बेचारी इतना वज़न नहीं सह सकी, टूटे पाए की तरफ़ से और टूट गई और दो बच्चे गिरते-गिरते बचे। इसलिए तीन बच्चों को खड़ा रहना पड़ा, बाकी चौकी के किनारे पर पैर लटकाकर बैठ गए। गुफ़्तगू शुरू हुई।

पता यह चला कि यह बच्चे स्कूल के बाद इसी जगह, पिछले चार साल से, कुछ घंटों के लिए जमा होते हैं। अब इनमें से ज़्यादातर बच्चे ग्यारहवीं और बारहवीं क्लास के हैं और विज्ञान, कॉमर्स और सामाजिक विज्ञान जैसे विषय पढ़ रहे हैं। स्कूल के बाद खाना खाकर यहां इकट्ठा हो जाते हैं, मिलकर पढ़ाई करते हैं। जिसकी जिस विषय पर ज़्यादा अच्छी पकड़ होती है वह दूसरे को समझने में मदद करता है। इसके लिए कई बार सफ़ेद बोर्ड का इस्तेमाल भी करते हैं। कभी कुछ देखने-समझने के लिए कम्प्यूटर की मदद भी लेते हैं। यह पुराना कम्प्यूटर फ़ैजान के वालिद का तोहफ़ा है। पढ़ाई के साथ-साथ, छोटे से सहन में कभी-कभार खेल भी हो जाता है। फ़ैजान और उसके भाई के अलावा सभी बच्चे कारखानों में काम करते हैं। कई अपने वालिद या बड़े भाई के साथ दिल्ली में रहते हैं, बाकी परिवार बिहार में हैं। यहां पढ़ाई और खेल करने के बाद काम में योगदान भी देना होता है। वक़ार के वालिद का बैग बनाने का कारखाना है, उसी में हाथ बंटता है। अब्दुल्लाह और अलतमश चूड़ी बनाने के काम में जुड़े हैं। गुलनवाज़ बटुआ (Wallet) बनाता है, इसी तरह बाकी बच्चे भी कोई न कोई काम करते हैं।

यहां मिलने से पढ़ाई के अलावा एक-दूसरे को ज़हनी सहारा दे पाते हैं। तरह-तरह की बातें होती हैं और आगे बढ़ने की सूरत निकालने के लिए सूचना का आदान-प्रदान भी रहता है। क्योंकि इस समूह में दो बच्चे दूसरे स्कूल के भी शामिल हैं तो नोट्स और किताबें भी अदली-बदली जाती हैं। उस स्कूल में आगे के पेशे को लेकर एक

कार्यशाला का आयोजन हुआ था। जो सूचना वहां मिली वह भी बच्चों ने आपस में बांटी। जैसे एक बच्चे ने वक़ार की तरफ़ इशारा करते हुए कहा, “वक़ार जैसे तो साईंस पढ़ रहे हैं, लेकिन इनकी प्रेस रिपोर्टर बनने में भी दिलचस्पी है। पता किया था वाई.एम.सी.ए. (YMCA) से भी डिप्लोमा होता है।” दूसरे ने कहा, “मैम, आपको याद है वक़ार ने पिछली बार एनवल डे पर ड्रामे में हिस्सा लिया था, जब से सब इसे ग़ालिब-ग़ालिब कहते हैं, इसके लिए रिपोर्टर बनना अच्छा रहेगा न।” इस तरह एक-दूसरे की हिम्मत-अफ़जाई होती है और आगे बढ़ने की तरकीबें सुझाते हैं। इनमें से कई बच्चे पढ़ाई में ट्यूशन के लिए भी जाते हैं। फिर वापस इसी जगह आकर औरों के साथ मिलकर पढ़ाई करते हैं। जो बच्चे एक विषय पढ़ने के लिए महीने के पांच सौ रुपये नहीं जुटा पाते उनकी मदद हो जाती है।

बातचीत से पता चला कि इस समूह के बनने के पीछे इनके एक टीचर का हाथ है। इरफ़ान सर पहले हमारे स्कूल में पढ़ाते थे, बच्चों से बहुत लगाव था और चूंकि इसी इलाक़े के पले-बढ़े थे तो बच्चों की ज़िन्दगी और दुश्वारियों से वाकिफ़ थे। उनसे फ़ोन पर बात हुई तो उन्होंने बताया, “यहां ऐसी जगह की सख़्त ज़रूरत है जहां बच्चे पढ़ सकें और एक-दूसरे का साथ दे सकें। कई बार बच्चे स्कूल के बाद मेरे घर पर भी पढ़ते थे। मैंने ही उन्हें राय दी कि इस तरह मिलकर एक जगह पढ़ लिया करो। अब तो इनमें आपस में अच्छी दोस्ती हो गई है। अब भी मुझसे मिलते रहते हैं। कभी कुछ समझ में नहीं आता है तो मैं अपने स्कूल से नोट्स वगैरा ला देता हूँ।” बच्चों का समझना-कहना है कि उन्हें इस तरह मिलने और पढ़ने से बहुत मदद मिली है। कई समझते हैं कि अब वह पहले से बेहतर पढ़-लिख रहे हैं और नम्बर भी हासिल कर पा रहे हैं।

इस समूह का तज़करा यह बताता है कि किस तरह एक छोटी जगह की सहूलियत बच्चों की कई माइने में मदद कर सकती है। इसी जगह की देन है कि बच्चे मिलते हैं, साथ-साथ क़दम आगे बढ़ाने की हिम्मत एक-दूसरे को दे रहे हैं। शायद इनके ख़ाबों की ताबीर का कोई सुराग़ निकल ही आए। इस इलाक़े में और इस तरह के और इलाक़ों में ऐसी जगह का प्रावधान होना चाहिए जहां बच्चे मिल सकें, खेल भी सकें और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में हिस्सा ले सकें। बल्कि कभी और, तारीख़ की खिड़की से आपको दिखाने की कोशिश करूंगी कि पहले स्कूल से जुड़े लोगों ने इसकी कोशिश किस तरह की थी। बच्चों के क्लब, मोहल्लों में होते थे जिन्हें बाल बिरादरी कहा जाता था। अभी तथ्य और दस्तावेज़ इकट्ठे करने का सिलसिला जारी है।

अगली किस्त में स्कूल की कुछ नई झलकियों के साथ फिर मुलाक़ात होगी। ♦